धरती और स्वर्ग

डॉक्टर देवराज

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

प्रकाशक :
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई ।

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली ।

स्नेहशीला
श्रीमती डॉ० सुरमा दासगुप्त को

इस संकलन में मेरी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की प्रतिनिधि रचनाएँ संग्रह की गई हैं। आज के युग में यह कहना कोई खास अर्थ नहीं रखता कि किसी लेखक के जीवन मे, भाव-चेतना और शैली दोनों दृष्टियों से, यह समय संक्रान्ति-काल जैसा है—क्योंकि स्वयं युग का जीवन और चेतना वैसे कालों की शृंखला बनते जा रहे हैं।

इस कालावधि में लेखक जहाँ एक ओर स्वतन्त्रताजन्य उल्लास से अनुप्राणित रहा है, वहाँ दूसरी ओर युग की अनास्था से; साथ ही वह यथार्थ को अधिक वस्तुगत रूप में देखने और जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टि विकसित करने का प्रयत्न भी करता रहा है। अभिव्यक्ति और जीवन-दर्शन दोनों क्षेत्रों में वह अभी अपने को प्रयत्न-पथ में ही पाता है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों को मैं वाद-मुक्त धरातल पर स्वीकार करता हूँ—व्यापक संवेदना और कलात्मक जरूरतों की मर्यादा के भीतर।

हिन्दी और इस देश में ही नहीं, अधिकांश देशों और भाषाओं में, कविता आज कम लोकप्रिय हो रही है। इसके अनेक कारणों में जीवन का व्यस्त अधैर्य और औसत पाठक का सांस्कृतिक छिछलापन तो है ही—कविता का मूल वासनाओं से दूर पड़ते जाना, विचार-बोझिल बनते जाना, भी एक कारण है। मेरा अनुमान है कि यूरोप तथा इस देश में भी नया काव्य शीघ्र ही रोमांटिक प्रतिक्रिया को जन्म देगा। लोक-गीतों की बढ़ती हुई चर्चा इसका संकेत है।

इसलिए यदि पाठकों को इन रचनाओं में, सामाजिक-मनोवैज्ञानिक यथाथ के अंकन की कोशिश के साथ-साथ, जहाँ-तहाँ, अध्यात्मवाद से अछूती 'रोमांटिसिज़्म' की गन्ध मिले, तो वे विचलित न हों। वादों के आतंक से मुक्त पाठक चुपचाप इन कविताओं के भीतर प्रवेश करके यदि उनमें कुछ भी रस पा सके, तो मैं अपने प्रयत्न को विफल नहीं समझूँगा।

लखनऊ,
४ दिसम्बर, १९५३

—देवराज

अनुक्रम

अरुणोदय—पन्द्रह अगस्त

बीती तम-बेला, अरुण क्षितिज पर आ गया !
अवसाद-कालिमा का पर्दा
हटकर गिरा,
आशा की नव आभा से
दिपी वसुन्धरा;
नूतन नभ में अभिनव खग-स्वर लहरा गया !
भोले उपवन के फूल
मृदुल दल खोल के
नव विभा भर रहे
मृदु साँसों पर तोल के,
पवमान सुरभि का नया पुलक-धन पा गया !
बह चला व्योम से
देखो तृण-तरु-पात पर
नव स्वर्ण-ज्योति का निर्झर
भू के गात पर,
प्रति मुख, प्रति मन पर नया सवेरा छा गया !

अगस्त, १९४७

शशि

छोटी-सी शशि
काली-काली उसकी आँखें,
भोला-भोला उसका मुखड़ा;
शुचि सरल दृष्टि उल्लसित-तरल,
निर्मल कपोल, हँसना उजला !

नन्हीं-सी शशि
हलकी-सी उसकी देह-यष्टि
धीरे चलना, धीमे हिलना;
कोमल किसलय-से अधरों से
मधुमयी स्वर्ण-द्युति में खिलना !

शशि सुकुमारी
फूलों के कोमल कम्पन-सा
उसके मृदु अंगों का स्पन्दन;
संचित परिमल-सी मृदुल साँस,
स्वर बाल-खगी-सा श्रुति-मोहन !

प्यारी-प्यारी
शशि खड़ी शरद-बालातप में,
अलकों में उलझ रहीं किरनें;

गालों की द्युति में लहरों-सी
दो-चार लटें लगतीं तिरने।

मैं देख रहा चुपचाप खड़ा
रवि-बिम्ब उधर, मुख-बिम्ब इधर;
प्राची की पुंजित ज्योति उधर,
मानव की करुणा-कान्ति इधर !

ऊपर नभ है विस्तीर्ण विपुल,
नीचे धरती सागर-वसना;
छोटी शशि उनके बीच खड़ी
(मा की आँखों का मृदु सपना !)

मैं उन विराट सत्ताओं को
शशि की लघुता से तोल रहा,
दिव के समस्त द्युति-वैभव का
शशि की स्मिति से कर मोल रहा !

१९४७

बधाई

लो बधाई, लो बधाई !

कल्पना में कोख में थीं

तुम जिसे सायास रचतीं

बाल-निधि वह स्फुट कुसुम-सी आज गोचर हुई, आई ।

लो बधाई, लो बधाई !

हृदय में धड़कन तुम्हारी,

दृगों में चितवन तुम्हारी;

झलकती नवनीत-तन मे

कान्ति उर-लोभन तुम्हारी;

गूढ़ ममता ने तुम्हारी आज यह मृदु मूर्त्ति पाई ।

लो बधाई, लो बधाई !

स्नेह-द्रव निज प्राण से ले,

चेतना-लौ चेतना से,

चारु क्षिति-जल-दीप में नव ज्योति यह तुमने जगाई ।

लो बधाई, लो बधाई !

मा, सुनो इसका रुदन यह,

मा, लखो इसकी हँसन यह,

सूँघ लो तन फूल-सा जिसमें तुम्हारी गन्ध छाई ।

लो बधाई, लो बधाई !

मार्च, १९४८

ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया !

काला मुखड़ा, पीठ व गर्दन,
बाकी सारा है सफेद तन;
स्वच्छ सुघर अमरूद-डाल पर
बैठी हवा खा रही जी भर;
ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया !

इधर-उधर मुड़ जाती गर्दन,
हिल जाता बित्ते-सा सब तन;
फिर-फिर मृदुल परों में कंपन
फिर-फिर छोटे दिल में धड़कन;
ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया !

सहसा निज डैने फैला कर
उड़ जाती हलकी तू सत्वर;
पीछे दृष्टि दौड़कर जाती,
पर न पकड़ में तू रह पाती;
ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया !

चिड़िया क्या है नाम तुम्हारा ?
कहां धाम, क्या काम तुम्हारा ?

कहाँ तुम्हारा रैन-बसेरा ?
कहाँ जगाता तुम्हें सबेरा ?
ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया !

छोटी चिड़िया, ननकी चिड़िया,
रुई सरीखी हलकी चिड़िया;
आ बस जा तू मेरे मन में,
अरी समा जा उर-धड़कन में;
ओ चिड़िया, जंगल की चिड़िया !

जून, १९४६

मेरा देश देखोगे, परदेशी ?

मेरा देश देखोगे, परदेशी ?
चैत में सहस्र फूल खिलते लहक जाते,
धरती-हवा कुञ्ज-कानन महक जाते;
जेठ की प्रखर ज्योति रूपा-सी चमक देती,
गुहा-गर्त्त-कूपों से तम को धमक देती;
सावन में ऊदे मेघ ले जाते घूम-घुमड़,
प्रेम का सँदेशा बिज्जु-रखों में आँक सुघड़;
कातिक में भूमि-जल-व्योम में लहर लेती,
ज्योत्स्ना—रसीली रजनी के मधुहास जैसी।
मेरा देश देखोगे, परदेशी ?
भोले-से किसान यहाँ भोले चरवाहे, सखे
भोली ग्राम-वधुएँ सहज मुसकाएँ, सखे।
प्रेमपगी कोमल भी वीर ललनाएँ हैं,
आनवाली, संकट में जौहर दिखाएँ हैं।
राम से प्रथम सीता वन की दिशा में चलीं
वेश किये तापसी।
मेरा देश देखोगे, परदेशी ?
जन हैं यहाँ के बड़े ज्ञान की पिपासाभरे,
मृत्यु के भवन पहुँचे नचिकेता बिना डरे;

राजभोग त्याग द्रुत गौतम निकल जायँ,
रणभू में ज्ञान-विज्ञान सारे तुल जायँ;
धम्मपद-गीता-कुरान-गुरु-ग्रन्थ के
कितने तिमिर-भेदी ज्ञान-दीप जलते;
बहती अपार एक संस्कृति-त्रिवेणी-सी।
मेरा देश देखोगे, परदेशी?

तर्कातीत भूमा की अकथ-सी ललक यहाँ,
ज्ञान-योग-पथ चित्त जाते ही भटक यहाँ।
सर्वभूत-मैत्री, सत्य-करुणा के मौनव्रती
दूसरों के स्वत्वहारी शासक बने न कभी।
किन्तु मातृभूमि की न सहते प्रतारणा ये,
लाख संकटों के बीच मौर्य-शिवा-राणा बढ़े।
सत्याग्रही बापू से प्रेरणा ले रूक्षकेशी
बढ़ी नारियाँ वे कष्ट-काँटों मे फूल-जैसी।
मेरा देश देखोगे, परदेशी?

१९४८

ओ वीणावादिनि शारदे !

ओ वीणावादिनि शारदे !
कँपती-सी इस स्वर-लहरी मे
री भर दृढ़तर झंकार दे !
रवि-शशि से ले बहु ज्योति-सुमन,
नक्षत्रों का वह गति-नर्तन;
अम्बर से ले कज्जल-से घन,
विद्युत के वे मणिमय कंकण;
मेरी वाणी के अंगों का
कर द्युति-दोलित शृंगार दे !
ओ वीणावादिनि शारदे !
सागर की निस्तल गहराई,
हिमगिरि की गरिमा-ऊँचाई;
यह महाव्योम का शून्य अमित,
वह आदि पुरुष की व्याप्ति प्रचित;
कवि के रहस्यमय अन्तर में
इनका छाया-संचार दे !
ओ वीणावादिनि शारदे !
सुर-सरिता का दुर्लभ कलकल,
शिशुओं का वह हँसना उच्छल;

मा की ममता, वीरों के व्रत,
मानवता के सपने ज्योतित;
मेरी कविता की गति-लय में
सब का सुरभित अभिसार दे !
ओ वीणावादिनि शारदे !

सृष्टि-सूक्त

सत् न था, असत् भी न था, अवनि-जल-वात न थे,
तम न था, उजेला न था, कहीं दिन-रात न थे;
कैसा अद्भुत वह समय रहा होगा साथी
तुम न थे, न थे हम, कहीं घात-प्रतिघात न थे !

कहते हैं था उस समय "समय" भी नहीं कहीं,
रवि नहीं, नखत-शशि नहीं, उषा औ' साँझ नहीं;
जागृति सोई थी और नींद भी सोती थी,
जगता था केवल घनीभूत-सा "नहीं" कहीं !

पोले अजगर-सा पड़ा हुआ निःस्पन्द मीत,
शीतोष्णहीन जग था निश्छल निर्द्वन्द्व मीत;
कहते हैं कोई "एक" साँस भी लेता था
निज स्वधा-शक्ति से, क्योंकि हवा थी बन्द मीत !

तम था तम से आच्छन्न ! मृत्यु से ढका मरण !
निश्चेष्ट पड़ा था कहीं अतल में परिवर्तन ।
थी प्रकृति ? पुरुष ? या निस्तरंग निष्प्रभ विद्युत् ?
किस भाँति एक में भेद-बीज का हुआ वपन ?

कितना तीखा या प्रथम काम का वह कम्पन,
कितना गहरा सत्-रज-तम का वह आलोड़न;

जो शून्य-बीज से निकल पड़ा जग-महाविटप
शाखायें जिसकी लोक, पत्र रवि-शशि-उडुगण !

यह अम्बर का विस्तार, सिन्धु की कुक्षि गहन,
ये महाशैल, नद-नदी, दीर्घ पटपर-कानन;
कब कैसे किससे निसृत हुए होंगे साथी
कितने भय-विस्मय से भर किस दर्शक का मन ?

विद्युत्सर्पों की तमक तड़पती मालायें,
ये इन्द्रधनुष के चित्रों की घन-शालायें
किसने निर्मित कीं ? ढाल गया नभ-प्याले में
रे कौन उषा-सन्ध्या की रक्तिम हालायें ?

नीलिमा कि सारे अम्बरतल में व्याप्त हुई,
लालिमा, कल्प-शत के प्रातों को प्राप्त हुई;
किस बृहत् खोह के अन्तर से निकली साथी
कालिमा करोड़ों रातों में न समाप्त हुई ?

रवि के वे अगणित सुबरन-पुंखित किरण-तीर,
उन रौप्य तारकों की वह नभ में महाभीड़,
वासना-तरंगे वे असंख्य रे श्वेत-नील
ले जिन्हे जलधि की ओर नदी जाती अधीर।

जग का द्युति-कोषागार जटित-ज्योतित खगोल,
महदादि तत्व तोलन का यह भू-बाट गोल,
किस महागर्भ से निकल सके होंगे साथी ?
सीमा-रेखाओं के सब बन्धन तोड़-खोल ?

१६४८

मा को देखूँ मैं, या शिशु को?

मा को देखूँ मैं, या शिशु को?
वे स्नेह-तरल निर्मल आँखें,
ईषत् विस्मय में उठीं भँवें;
विकसित-प्रसन्न शुचि गंडफलक,
कुछ खुले सरस वे रदनच्छद;
अधखिल दशनों की हास-विभा,
स्पन्दित मुख की सात्विक आभा;
विस्मित-विमुग्ध करते कवि को
मा को देखूँ मैं, या शिशु को?

वे चकित सलोने स्वच्छ नयन,
वह ओस-बिन्दु-धोया-सा-तन;
नन्हें कर-पद, कोमल आनन;
स्मित-भीगे अधरों का कम्पन;
अस्फुट आः ओः का उच्चारण,
किलकारभरी वह कभी हँसन।
मा लखती शिशु को निर्निमेष,
शिशु तकता मा का मुख-विशेष;
कवि देख रहा इसको, उसको!
मा को देखूँ मैं, या शिशु को?

अगस्त, १६४६

मा समीप लेटी है आकर

मा समीप लेटी है आकर
आठ मास की नन्हीं मुनिया
फूल-सरीखी मोहक मुनिया
भूखी दूध पी रही चुप-चुप नव कोंपल से अधर हिलाकर !
कुछ क्षण में ही नयन खोलकर
उठा दृष्टि अति कोमल काली
विवृत किए मुख-संपुट-लाली
मा का प्रिय आनन निहारती अधखिल कलिका-सी हँस-हँस कर !
मिलते दोनों के दृग पलभर !
होते क्या-कुछ मौन इशारे
लुटती अद्भुत स्नेह-विभा रे
पुलकित हो जाता कुछ क्षण को क्या न हृदय जगती का जड़तर ?
तब कुछ खीझभरी मा कहती
'पी बिटिया जल्दी-जल्दी पी,
मुझे बहुत-सा काम अभी री';
पर वह फिर-फिर पुलक विहँसती, फिर निश्चिन्त पयोधर गहती !
मा ! यों ही पीते रहने दो
इसे मधुर ममता--मधु-आसव
रुका रहे छिन भवन-काज सब
कुछ पल भी जीवन के मरु में रस का लघु निर्झर बहने दो !

मार्च, १९४८

भारी अचरज है मुझे सखी

भारी अचरज है मुझे सखी
मिट्टी-पानी की जड़ता में
पावक की तप्त प्रखरता मे
कैसे खिल पड़ती है सहसा शिशु की यह मोहक, मंद हँसी !
इसकी भोलीभाली चितवन
अम्बर की नीली छाया से
सरिता की गीली काया से
निकली भी तो कैसे आया उसमें यह अद्भुत आकर्षण ?
मैं जो खाती-पीती सजनी
इन सुघर-सलोने अंगों की
इन कोमलतर मुखभंगों की
कैसे उससे माखन-सी मृदु, किरणों-सी दीपित कान्ति बनी ?
कहते हैं आत्मा है आली
पर निर्विकार है वह निर्गुण
स्पन्दन है वहाँ न परिवर्तन
यह रूप गन्धवाली मोहिनि कैसे उसने काया पा ली ?
ओ प्रश्नमयी ! तू ही बतला
तेरे ये शंकाभरे बोल
भ्रूमंडल का विस्मय विलोल
किन वायु-लहरियों से निकले, किस इन्द्र-धनुष से आ उलझा ?

मार्च, १९४८

मा बैठी पलके पर आकर

मा बैठी पलके पर आकर
स्मिति से लो शिशु का वदन खिला,
घुटनों पर चलकर द्रुत पहुँचा;
कन्धे को पकड़ खड़ा झुक-मुड़,
वह देख रहा जननी का मुख!

धीरे-धीरे लो गया सरक
मा की गोदी में पटु बालक;
हँसते हैं उसके मधुर अधर,
खोजते पयोधर दोनों कर!

'कितना नटखट!' कहती हँसकर,
फिर देती है थपकी मृदुतर;
मा बैठी पलके पर आकर!

१६४६

ज़ेबुन्निसा

पाले में शिशिर के खड़ी पली हूँ मैं,
औ' ग्रीष्म के उत्ताप में जली हूँ मैं;
आई न रे बहार कभी जीवन में,
जो खिल न सकी आह! वह कली हूँ मैं।

वह रात कि जिसमें न उगा चन्द कभी,
वह वेदना जिसको न मिला छन्द कभी;
भ्रमरी वह जिसे विश्व की फुलवारी में
इक बूँद भी मिल पाया न मकरन्द कभी!

दिन-रात बरसते ही रहे मेरे नयन,
विद्युत-सा तड़पता ही रहा मेरा मन;
रवि-सोम नहीं, कोई सितारा भी नहीं,
आशा का अँधेरा ही रहा नित्य गगन।

ये हाथ किसी के हुए गल-हार नहीं,
ये नैन कभी लाज से लाचार नहीं,
सूखे हुए ये होंठ, यह मुरझाया दिल,
बरसा कभी इन पै किसी का प्यार नहीं!

वह रागिनी हूँ जो कभी गाई न गई,
वंशी हूँ जो अधरों से लगाई न गई;

माला हूँ वह मोती-से आँसुओं की बनी,
सीने पै किसी के जो सजाई न गई !

उर-ज्वाल बुझा देता कोई घन न मिला,
दृग-प्राण जुड़ा देता वह सावन न मिला;
नैनों में बसा लेती, हृदय में भरती,
संसार में हा ! ऐसा हृदय-धन न मिला।

आँसुओं का मेरे मोल लगाने वाला,
प्राणों की विपंची को बजाने वाला;
आया न रे अस्तित्व की फुलवारी में
मधुमास-सा, सौरभ-सा समाने वाला।

वह स्निग्ध-मदिर दृष्टि कि खो जाते नयन,
आह्वान मधुर लय जहाँ हो जाते श्रवन;
दृढ़-सक्त भुजाओं का वह विद्युत् बन्धन
कँप जाते, विसुध होते जहाँ तन औ' मन।

पथ जोहते जीवन गया सारा मेरा,
कर-करके तेरी याद मन हारा मेरा;
ओ श्याम निठुर ! तूने बता वंशी में
भूले भी कभी नाम पुकारा मेरा ?

दृग-व्योम में जलती हैं ये तारावलियाँ,
उर-सिन्धु में बड़वाग्नि की ज्वालावलियाँ;
मैं वेदना के लोक की दीवाली हूँ,
हर रोम में बलतीं मेरे दीपावलियाँ।

हूँ दर्द की दीवानी कोई कुछ न कहै,
संगी य' मेरा शाद औ' आबाद रहे;
आँसू मेरे सहचर हैं, व्यथा मेरी सखी
एकाकिनी कब हूँ मैं ? कोई कुछ न कहे।

दुखिया की रे समाधि पै चिराग़ न हो,
बिखरे न कहीं फूल हों, पराग न हो;
पर अपने जलाये न वहाँ कोई शलभ,
बुलबुल के गले में भी करुण राग न हो !

नारी से

तुम मृदु-मृदु मुसकाती रहो
दशनों के किरन-उजास से
नयनों के सित उल्लास से
जीवन की गैलों का घना
संचित तम छितराती रहो।

चितवन के तिरछे तार से
स्मितियों के पुष्प-प्रहार से
जड़-भूले नर-मन को पुनः
चेतन-पथ में लाती रहो।

उर के कोमलतर प्यार से
अँखियों के करुणा-भार से
युग के कठ-प्रस्तर चित्त को
तिल-तिल भी पिघलाती रहो।

सुख-दुख अनुकम्पा-प्रीति के
मैं गाता जो शत गीत रे
जीवन-लय में भरना उन्हे
नर-शिशु को सिखलाती रहो।

अक्तूबर, १९४९

मोड़ मुख हँसी वह !

मोड़ मुख हँसी वह
चलते-चलते सखियों से बात कर रही थी,
एकाएक भंगिमा से ग्रीवा मुड़ गई थी,
दिन-आवरण पै ज्यों नई चाँदनी गिरी,
चित्त-व्योम में मानो कौंध गई बिजली,
बल उठी लालसा की लौ-सी उर में दुसह
मोड़ मुख हँसी वह !

मार्च, १६५०

उन आँखों में जाने क्या था !

उन आँखों में जाने क्या था !

काले चमकीले तारों से

ज्योत्स्ना-से शुभ्र किनारों से

क्या-कुछ निःसृत होकर सहसा उर की धड़कन में आ उलझा !

जाने कैसी गहराई थी

किस हाला की परछाई थी

सुधि-भूली निश्चल पलकों का भारीपन ले मन डूब चला !

ज्यों-का-त्यों ही था नील गगन

ज्यों-की-त्यों सौरभ-सिक्त पवन

चुम्बक-चालित दिशि-सूचक-सा मैं ही आकुल था, चंचल था !

अक्तूबर, १९४९

प्रिय कहाँ से आ सकीं तुम ?

प्रिय कहाँ से आ सकीं तुम ?
ये तरल कुवलय-विलोचन
यह चलित उडु-मीन-चितवन
खिले-खोये कौन-सी नभ-दीर्घिका में पा सकीं तुम ?
प्रिय कहाँ से आ सकीं तुम ?

दृग-विलोभन ये अधर-दल
मधुभरी मुसकान उज्ज्वल
कौन वासन्ती कुसुम-वन से सयत्न चुरा सकीं तुम ?
प्रिय कहाँ से आ सकीं तुम ?

ये मदिर अनमोल चुम्बन
ये तडित्संस्पर्श कम्पन
कौन-से घन-पात्र में ढाली सुरा से ला सकीं तुम ?
प्रिय कहाँ से आ सकीं तुम ?

ये वचन रस-प्रीतिघोले
ये प्रणय-आलाप भोले
कौन शुक-पिक-सारिका के कण्ठ से चुन पा सकीं तुम ?
प्रिय कहाँ से आ सकीं तुम ?

कौन-से परमाणुओं में
कौन-से विद्युत्‌कणों में
स्वर्ण-वल्ली-सी सचेतन प्रिय उठीं—खिल जा सकीं तुम ?
प्रिय कहाँ से आ सकीं तुम ?

मार्च, १९४६

नर्त्तकी

मृदु करों की उँगलियाँ वे
सामने खुलतीं-सिमटतीं
पार्श्व में चढ़तीं-उतरतीं
आँकतीं क्या लेख अद्भुत-सा नयन-पथ में, हवा में ?

पुतलियाँ वे स्निग्ध-काली
दाहिने-बायें कुटिल चल
ताक ऊर्ध्वाकाश को पल
दर्शकों के उर हिंडोरों-से डुला देतीं निराली ।

बाहु मनसिज-पाश जैसे
वक्ष की अभिमुख पवन को
बाँध-कसते विश्व-मन को
लालसा के अरुण घेरे में अचानक घेरते-से !

घुँघरुओं से ध्वनित चंचल
वे त्वरा के बन्धु-से पग
वे चरण-निक्षेप जगमग
ताल पर जन-धड़कनों के थिरकते-उठते विसंकुल !

तनु-लता ज्यों बीन नभ की
अलख हाथों चालिता-सी
गति-स्वरों में झनझनाती
मोहिनी छाया कि जिसकी प्राण-द्रव में झिलमिलाती !

नर्त्तकी तन-मन बिसारी !
ताल-लय में लीन होकर
इस तरह सुधि-हीन होकर
नाच मत ना विश्व के अस्तित्व का कण-कण नचा री !

अरुणोदय

लो ! अरुण वीर के चले तीर
विद्युत-पुंखित से दुर्निवार
कर भिन्न तिमिर का घन शरीर !

उडु-सैनिक जाने गए किधर,
शशि-सेनानी का मुख कातर,
उठता अम्बर में विजय-रोर
खग-चारण-कण्ठों से अधीर !

मुक्ता के बन्दनवार श्वेत,
लहराते किसलय-कलित-केतु,
पग-पग पर उमड़ रही देखो
रूपों-रंगों की विपुल भीर !

मार्च, १९४८

एक्ट्रेस

चारु फुलवारी में क्षिप्र गति संचरण
करती कुसुमगात फूलों का संचयन,
रस-लुब्ध भौंरों को फिर-फिर हेरती,
हँसती,दशन-ज्योति दिशि-दिशि बिखेरती;
दामिनी-सी सहसा घन-पट पै उतरती
भूतल की उर्वशी !

तिरछी कमान जैसी काली-काली भौंहे,
नैना रसीले अलसौंहे या हंसौहे;
पाउडर-प्रसाधन से शुचितर कपोल रे,
विद्रुम से लोभनीय अधरा अमोल रे;
वक्रता-विलासमयी हासमयी रूपसी
भूतल की उर्वशी !

खिच जाते एक साथ सहसा हज़ार नयन,
कंप जाते बिध जाते कितनों के चित्त-अयन;
रसहीन जीवन में रस की लकीर-सी,
चेतना-अँधेरी में विद्युत के तीर-सी;
चित्त मरु-भू में रूप-राग की झरी-सी
भूतल की उर्वशी !

मधुभरा मदभरा गाती प्रेम-गीत रे,
मोहभरा जादूभरा अभिनय-संगीत रे;
हाव-भाव-विभ्रम विविध संकेत कर,
भोले मुग्ध प्रेमी का लेती हृदय हर;
तकती ठगी-सी जन-दृष्टि परवश-सी
भूतल की उर्वशी !

पड़ जाती हाय कहीं कोई विघ्न-बाधा,
प्रेमिक का साथ अपराध बन जाता;
अमवा की फाँकों जैसी बड़ी-बड़ी अँखियाँ,
तीखे विषादभरी रोती दिनरतियाँ;
जन-जन के चित्त समवेदना उमड़ती
भूतल की उर्वशी !

डबडब आँखें अश्रु-सिंचित कपोल वे,
सूखे मलिन होंठ रुँधे कंठ-बोल वे;
शोक की विपंची-सी छेड़ती करुण तान,
सुध-बुध-खोई-सी गाती विरह-गान;
लगती अधिक कमनीय क्लिष्ट-मूर्ति री
भूतल की उर्वशी !

गा-गा वियोग-गीत एक ध्रुव प्रेम का
विह्वल-विकल वह देती रे सँदेशा;
प्रेम गति, प्रेम मति, प्राण प्रेम-प्यास री,
लेती अनन्य नाम उसकी हर साँस री;
जीवन में बाला अनुरागिणी वह किसकी ?
भूतल की उर्वशी !

बाधा हज़ार कर पार शुभ्रहासिनी
सजती वधू-वेश लोचन-विकासिनी:
पुष्पिता लता-सी मूर्त मोह-प्रतिमा-सी,
शत-शत प्रेमिकों के बुद्धि-मन मथती;
बसती उरों मे मधु-शूल-सी कसक-सी
भूतल की उर्वशी !

रूप-रस-लोभी भौर बार-बार आते,
भिन्न-भिन्न वेश-नाम देख न अघाते;
भिन्न-भिन्न छवियों पै बलि-बलि जाते,
छाँह भी न तेरी हाय ! किन्तु छू पाते;
उनकी कभी न होती किस-किस की प्रेयसी
भूतल की उर्वशी !

ओ अनिन्द्य रूप-शिखे ओ रहस्य-रमणी !
प्रतिभा-प्रगीत-अनुराग की त्रिवेणी !
वक्ष मे है कन वासनाओं का ताप री,
अधरों में कैसे किन चुम्बनों की प्यास री ?
जनता की कलाकार, नायिका, नर्त्तकी,
नारी, ओ उर्वशी !

अगस्त, १९४९

चार चीनी कविताएँ[1]

विरह गीत

ठंडी-ठंडी चलती पुरबैया वात
(आँखों में उसकी हन्त! उपेक्षाभाव);
तकता मुसकाता और चला जाता है
कँपता मेरा मृदु गात!

चलती है तीखी हवा, उड़ रही धूल
(कल आने की ले गया शपथ अनुकूल),
प्रिय प्रिय रे उसके शब्द, न पर विश्वास
उठता मेरे उर शूल!

सन्-सन् चलती थी हवा घिरे घन श्याम
(डूबा था जाने कहाँ तरणि द्युतिधाम!)
दिनभर तकती थी राह, निशा अब घोर
कैसे सोऊँ मैं वाम!

---

१. लिन् युटाङ् की 'द विज़डम ऑफ़् चाइना' से अनूदित। दूसरी (लाउत्से का दर्शन) वहीं से संकलित।

काले-काले बादल हैं, काली रात
(नभ गरज-गरज उठता !) ज्यों कदलीपात
मैं कपती, रे मैं कंपती जगनी सहती
दारुण दुख का आघात !

जनवरी, १९४९

लाउत्से का दर्शन

कर्म न कर, कर्म न कर
मत थक मत श्रान्त बन,
मत रे उद्भ्रान्त बन,
दौड़-धूप, आकुलता
तज थिर-मन शान्त बन।

इतने क्यों व्यस्त सखे, शंकित क्यों त्रस्त सखे
क्यों शत चिन्ताएँ;
जीवन के रेत में बनती-बिगड़ती हैं
हार-जीत, यश-अपयश
की सौ रेखाएँ।

कर्म न कर, कर्म न कर
शारदी निशा में मीत नदी के किनारे
लहरों का खेल देख, नभ के वे तारे;
गृहिणी का स्निग्ध मुख, शिशुओं का मुक्त हास;
भीड़-भरे जग में न बढ़ने का कर प्रयास।

कहते वे करेंगे हम विश्व की विजय,
शक्ति, धन, मान, ध्रुव कीर्त्ति संचय

झूठ बात, झूठ बात
देखता मैं साफ़ तात

आयें भी हाथ तो कभी न रुक पायँ
शक्ति, धन, मान सखे बह-बह जायँ।
विश्व- विजिगीषु वह
कहाँ है सिकन्दर ?

कहाँ वह बोनापार्ट
कहाँ ज़ार-सीज़र ?
पकड़ के रख सका कौन भूगोल ?
क्षुद्र नर विश्व का करे क्या मोल !

कर्म न कर, कर्म न कर
मत थक, मत श्रान्त बन,
मत रे उद्‌भ्रान्त बन,
दौड़-धूप, आकुलता
तज थिर मन शान्त बन !

विग्रह-संघर्ष छोड़
वाद औ' विवाद
हार ही को मान विजय,
जीत विस्वाद।
जो है रिक्त वही भरा,
जो है झुका वही उठा,
है अभाव-ग्रस्त धनी,
और धनी कष्टघिरा।

बिना यत्न किये ज्ञानी होता सफल,
बिना शब्द देता वह शिक्षा निर्मल,
चाहता न लेना श्रेय निज के लिए
फैलती इसी से कीर्त्ति उसकी विमल।

करता नहीं वह आत्म-मण्डन
अतः नित अखण्डित,
करता कभी न आत्मख्यापन
अतः श्रेय-मण्डित,
करता कभी न गर्व, अतएव
जन-उर पै शासन,
निर्विरोध, कर सकता उसका
कोई न विरोध जन।

कर्म न कर, कर्म न कर
मत थक मत श्रान्त बन,
मत रे उद्भ्रान्त बन,
दौड़-धूप, आकुलता
तज थिर मन शान्त बन;
ज्ञानी बन, "ताउ" बन।

ज्ञान-सूत्र

विद्वान् है वह इतर तत्त्वों को
जो जान सका है,
पर है विवेकी वह कि जो खुद को
पहचान सका है।
जो बाहुबल से अन्य को जीते
वह व्यक्ति सबल है,
पर शक्तिशाली वह कि वश जिसके
निज चित्त चपल है।
सन्तोष जिसको है धनी वही,
संकल्प दृढ़ जिसका कृती वही।

जनवरी, १९४९

भिक्षुणी की भावना

मैं भिक्षुणी हूँ, भिक्षुणी
सोलह बरस की कामिनी संन्यासिनी।
मै बालिका थी जब कि मेरे शीश के
वे केश मृदु काटे गये!
मेरे पिता—है बौद्ध सूत्रों से उन्हे अनुराग,
मेरी जननि—प्रिय उसे भिक्षु-समाज।

मैं नित्य प्रातः-साँझ, प्रातः-साँझ हाँ
नियमित जलाती धूप, करती प्रार्थना;
पैदा हुई मैं हन्त! दुर्ग्रह-योग में
भेजी गई जिससे यहाँ।

अमिताभ! अमिताभ!
दिन-रात करती मैं इसी का जाप।
घड़ियाल-घण्टों के तुमुल खरनाद से
उन मंत्र-तंत्रों के विरस उच्चार,
उपदेशकों की व्यर्थतर बकवाद से
रे मैं गई हूँ ऊब भरी विषाद से।
प्रज्ञापारमिता, मयूर-सूत्र
सद्धर्मपुण्डरीक

कितनी घृणा सब के प्रति मेरे उर
मिथ्या, सब अलीक !

मैं भिक्षुणी हूँ, भिक्षुणी
सोलह बरस की कामिनी संन्यासिनी ।
जब बोलती अमिताभ
उर से निकलती आह औ' आती किसी
बाँके युवा की याद !
जब मन्त्र का उच्चार
करती, हृदय में दग्ध होता वेदना का
तीक्ष्णतर संचार !
गाती जहाँ स्तवन
रे फैल जाता चित्त में अभिलाप का कम्पन ।

लो घूम लूँ, अब घूम लूँ,
उस ओर को टुक बढ़ चलूँ;
उस बड़ मण्डप में जहाँ
आधे सहस है भिक्षु हाँ ।

ये भिक्षु मुझको घूरते तकते यहाँ
(बुद्धू बने रे सब बढ़ा कर दाढ़ियाँ !)
देखो उसे आश्लेष घुटनों का किये
(क्या अधर उसके नाम मेरा ले रहे ?)
वह दूसरा कर पर रखे निज गाल को
(ज्यों सोचता सम्बन्ध में मेरे अहो !)
उस अपर के वे नेत्र स्वप्नाविष्ट से
(मानो कि मेरा स्वप्न ही हों देखते !)

पर कौन वह देखो वहाँ
लख मुझे हँसता या कि मुझ पर हँस रहा !
हँसता-कि जब सौन्दर्य क्षय हो जायगा
जब बीत यौवन जायगा
तब कौन, हाँ तब कौन
श्लथ-अंग फीकी प्रौढ़ अबला से अहो
परिणय करेगा कामना से विवश हो !

वह दूसरा है दीखता
कुछ क्लिष्ट करुणा-क्लान्त-सा ज्यों सोचता
गतयौवना इस भिक्षुणी का अन्त क्या ?

उस वेदिका पर दीप सुन्दर जल रहे
(हन्त ! वे मेरे न रति-गृह के लिये ।)
वह धूपदानी सुघर भी है व्यर्थ-सी
(शयन-गृह मे कब वधू के पहुँचती ?)
वे मुलायम स्वच्छ तोशक-गद्दियाँ
सुलभ सोने-लेटने को हों कहा ?

हा प्रभो !
कहाँ से यह वासना की ज्वाल रे,
अरुण ज्वाला, दाहिका, विकराल रे !

फाड़ दूँ मैं भिक्षुणी के वस्त्र,
गाड़ दूँ सब सूत्र,
छोड़ चल दूँ यह विहार-अरण्य
और भिक्षु-पुत्र ।

छोड़ दूँ घड़ियाल-घण्टे
मंत्र सब, यह ढोंग सारा,
और चल दूँ खोजने को शैल-तट में
तरुण प्रेमी सुभग प्यारा !

रह सकूँगी अब न रे मैं भिक्षुणी
कोई डाँटे, कोई मारे;
मैं नहीं अर्हत् बनूँगी, नहीं बुद्ध,
नहीं गुनगुना सकूँगी
मिता, प्रज्ञा, परा अब रे !

जनवरी, १६४६

नाश और निर्माण

कैसी अद्भुत है महाकाल की यह चादर
बिन रूप-रंग की, जहाँ कि गिरते हैं आकर
घटना-रीलों के सहस चित्र छिन-छिन पल-पल
पड़ता न खून का एक दाग़ भी कहीं मगर !

यह हृदयहीन सुख-दुख का कुछ अहसास नहीं
बेशर्म कि इसको कहीं किसी का पास नहीं,
मानव के रोने-हँसने, मरने-जीने में
सम यह साथी, छूता इसको इतिहास नहीं !

यह महाचोर जीवन की सुख-घड़ियां रसमय
ले जाता पहले प्रीति-बोल चुम्बन-परिचय;
मद-भरी जवानी और सुघर भोला बचपन
चुन-चुन सब सौरभ-सार कहीं करता संचय ।

रे कहाँ गये सीता-सहचर रघुवंश-वीर
विद्युत्-सी वे श्यामल घन वे शोभन-शरीर,
कुन्दाभ अनुज युत बभ्रु वल्कलों में करते
दर्शक-नयनों में इन्द्र-धनुप की रंग-भीर ?

रे कहाँ सलोने नटवर राधारमण श्याम
जिनकी सस्मित चितवन में बसते सहस काम,

मुरली की वह उन्मादकरी रस-भरी तान,
शत-नूपुर-शिञ्जित रास-रंग हृदयाभिराम ?

वे कहाँ गोपियाँ विरह-विकल दृगनीर-भरी,
मुरझाई कलियों-सी दारुण दुख-पीर-भरी,
वृन्दावन में सूखी नर-उर-भू में जिनकी
रे बरस-बरस जाती अब लौं करुणा-बदरी ?

वह कण्वसुता कल कल्पलता-सा जिसका तन,
गूँथा अंगों में फूलों-सा मोहक यौवन;
आश्रम-उपवन में आते थे सम्राट् स्वयम्
जिसके मुख-लोभी भ्रमरों का करने शासन।

वह कृष्णा जिसका क्षुब्ध-कुटिल भृकुटी-निपात,
दीपित वचनों-युत करता दुहरा शराघात;
तन-मन में ताड़ित जिससे जाते झूम-घूम
भीमार्जुन भारत-ग्रथित वीर वे कठिन-गात !

वे साधु युधिष्ठिर शील-धर्म-धैर्यावतार,
रण-विजयी ढोते दैन्य-दुःख का दुसह भार;
वे व्रती भीष्म शर-शय्या जिनको कुसुमप्राय,
जनि-मरण शस्त्र-शास्त्रों पर जो तुल्याधिकार ?

ओ दस्यु ! कहाँ मेरे शतशः इतिहास-रतन
धर्मी अशोक गर्वी प्रताप मर्मी कविगण;
रे ज्ञान-पुंज वे बुद्ध-कपिल-गौतम-शंकर
वे पुण्यप्राण बापू विशालमति कोमलतन ?

ओ महाकाल ! अब हमें तुझी से लगी होड़,
तू निलज निठुर करता रह अपनी तोड़-फोड़;
कवि की वाणी, मन के प्रयत्न-संकल्पों में
हम लायें गत वैभव, अतीत की दिशा मोड़ !

तू महाव्याल फैला अपने शतफन भीषण
अविराम करे चर-अचर सभी का विष-दंशन;
मेरे जीवन की सृजनशील शक्तियाँ निपुण,
नित करें भुवन का अमृतसेक, नूतन सर्जन !

वह देख क्षितिज मे महामहिम रवि रहा निकल
निस्तल सागर मे फेंक दिया था जिसको कल
दर्पित तूने; फिर प्रात-पवन मे वे कलियाँ
खुल रहीं कि जिनके सुमन दिये थे तूने दल ।

वह उषा, देख, पहने रंजित साड़ी नूतन
आई नभ मे तुझ पर हँसती-सी जगमगतन;
खिल पड़े हजारों रूप-रंग जग-उपवन के
काले तम का जिन पर डाला था वस्त्र सघन ।

नभ में ज्योतिर्कुसुमों की बन्दनवार लगी,
फिर धरा-वधू है देख प्रणय-उल्लास पगी;
आती फिर दक्षिण वात लिये परिमल-हाला,
पी जिसे अमित अलिपाँति अरे वह ठगी-ठगी !

फिर, देख, सहज-उल्लसित विहग कल बोल रहे,
फिर सहज चपल शिशु निर्मल आँखें खोल रहे;

प्रेयसि के अलसाये मुखड़े को झाँक-निरख
प्रेमी के फिर वे तृप्त मनोरथ डोल रहे !

साथी, चिर-नूतन है मेरे जग का जीवन,
चिर-नव चिर-आकर्षक उसका मधुमय यौवन;
मेरे जीवन की मद-विभोर अँगड़ाई में
फिर-फिर करता इतिहास विगत प्रत्यावर्तन।

फिर-फिर नव किसलय-वस्त्र सजा मृदु डालों में,
मधु-आसव भर फूलों के मोहक प्यालों में
आती मधुश्री, पिक और पपीहे के मिस से
कुछ मंत्र फूँकती पथ के चलने वालों में !

गूँथे घन-केशों में जलमय मुक्तावलियाँ,
बहुरत्न-जटित पहने सुरधनु-हारावलियाँ,
जोहा करती फिर-फिर आ प्रिय का पथ पावस
नभ में विद्युत की जला-जला दीपावलियाँ !
फिर-फिर ज्योत्स्ना का अमल-धवल परिधान किये,
निज अमृत हास में वशीकरण-सन्धान किये,
शशिमुखी शरद आती मरालगति से मन्थर
वर वारवधू-सी नवसरोज-मधु पान किये !

सब वर्त्तमान में समा रहा मेरे अतीत
ले गया जिसे हर काल-दस्यु तू समझ जीत;
गत सदियों के नभ में जिनकी ध्वनि हुई लीन
स्मृतिवीणा पर बजते फिर-फिर रे वही गीत।

माँ के सम्मुख आँगन में रस-उल्लास-भरा,
शिशु थिरक-थिरक चलता जब कलकल-हास-भरा,
ग्रीवाभंगी से जननि ओर तकता-झकता
तब कृष्ण कन्हैया को पाती फिर मुग्ध धरा।

उभरे वक्षोजों पर आँचल-विस्तार किये,
कटि पर जलपूरे घट का गीला भार दिये,
गोपी-सी आती ग्राम-युवति पनघट से चल
नत नयनों में अपने मोहन का प्यार लिये।

मेरी प्रेयसि के निर्मल नयन-कपोलों में,
कुंचित भ्रू-संकेतों मृदु-मोहक बोलों में,
राधा-दमयन्ती-शकुन्तला के सौ विभ्रम
जगते अनुदिन रस-रंजित क्षण अनमोलों में!

प्रेयसि का मोहक क्रोध-कुटिल भृकुटी-विलास
भर देता मन में गृह-समीर में तुमुल त्रास,
तब नूरजहाँ-शासित अकबर-सुत के उर का
पाता मैं कुछ आभास मुग्ध, वंचित, उदास!

संसृति की नश्वरता का कर-कर अनुचिन्तन
होता फिर-फिर वैराग्य, अनेकों काम-दहन;
प्रेयसि की चितवन किन्तु सहज रस-रागभरी
फिर-फिर शत अभिलाषाओं को देती जीवन।

फिर दृढ़प्रतिज्ञ वे वीर धरा पर डोल रहे,
देखो मा के चिर-कालिक बन्धन खोल रहे;

वे चन्द्रगुप्त-राणा-गुरु का श्रम उपजाते
माँ के कष्टों को निज निष्ठा से तोल रहे ।

भारत-नभ में लो स्वतंत्रता का द्युति-विहान
फिर आया, खग-कंठों मे नूतन मुक्त गान,
जल-थल-भू-अम्बर पर लिखतीं इतिहास नया
नव किरणें, बुनतीं नव-आशा-ज्योतिर्वितान ।

नूतन उमंग, उत्साह नया ले आर्यवीर
फिर विषम कर्मपथ पर बढ़ने को है अधीर
ज्योतित आदर्शों के शत-शत ले मणि-प्रदीप
वे बढ़ें, घृणा-विद्वेष-लोभ का तिमिर चीर !

अप्रैल-मई १६४८

कविवर ! क्या गाते हो ?

कविवर ! क्या गाते हो ?
मधुवन के गाने ये
प्रेम के तराने ये
हो गये पुराने सब ।

बड़े-बड़े नगरों में कहाँ हैं अब
सरोवर वे पद्माकर
लिपटे-से छायातप रहस्य में
स्पन्दित-से पक्षियों के कलरव से
मधुपों के गुंजन से
यात्रा-श्रान्त सुधिहीना प्रणयिनियाँ
भूलतीं जहाँ आके हीरक-अँगूठियाँ ?

बड़े-बड़े नगरों में
दिल्ली-कलकत्ता में, कानपुर-बाम्बे में
कहाँ वह वसन्त आता जलते अनंगवाला,
यज्ञ का कहाँ पावस
एक-से हैं दिन-रात,
हवा-गन्ध एकरस ।

एक ही प्रकाश देते बिजली के दीप प्रखर
नहीं पूनो, नहीं अमा, नहीं अभिसारिकाएँ।

अब वह वियोग कहाँ, क्लेश कहाँ
कहाँ सन्देश-कष्ट,
चिट्ठियाँ ले उड़ते हैं वायुयान,
ख़बरें ले टेलीग्राम,
और विज्ञापन ले घूम जाते
दसों दिशाओं में पत्र।

व्यर्थ मेघदूत, अनपेक्षित भ्रमर-गीत,
व्रज की व्यथा,
आती है हँसी बहुत सुन दमयन्ती की
कल्पना-कथा!

और सच पूछो तो
इस व्यस्त युग में देश के विदेश के
लाख प्रश्नों के बीच
प्रेम के विरह के आँसू बहाने की
फ़ुर्सत भी कहाँ है!

२

कविवर, क्या गाते हो?
मधुवन के गाने ये
प्रेम के तराने ये
हो गये पुराने सब।

महलों, प्रासादों पै दृष्टि दिए
बहुत दिनों देखा किए
चन्द्रमुखियों का साज-शृङ्गार,
प्रेमियों की मनुहार;
खंडिता का क्रोध-क्लेश, गूढ़ अभिसंधियाँ,
गुप्त षड़यन्त्र,
चाटुकार प्रेमियों के वंचना-प्रपंचभरे
मधुर प्रेम-मंत्र।
बहा चुके आँसू बहुत
द्रौपदी औ' सीता के भाग्य-परिवर्तन पर
दारुण विवर्त्तन पर।
देखो अब
दिल्ली-कलकत्ता में, कानपुर-बाम्बे में
अहमदाबाद में
राशि-राशि नारियाँ
नहीं नहीं औरते, स्त्रियाँ
(रूपसी नहीं वे नहीं सुकुमारियाँ;)
(भाग्य में न होता कभी जिनके विवर्त्तन,
कोई परिवर्त्तन;)
भद्दे सख़्त हाथों से
कठिन आघातों से
पीटती हैं, कूटती हैं, झाड़ती हैं।
स्वेद-दुर्गन्धभरे दीखते है मैले अंग,
हिलते वे ढीले स्तन;

और गन्दी मिट्टी की मूरतों-से
क्रान्तिहीन आनन !

मन में उमंग नहीं,
नहीं उत्साह;
मोहक आशाएँ नहीं,
मादक न चाह;
देश में विदेश में हुआ क्या,
कौन जीता, कौन हारा;
नूतन है कौन विज्ञान का चमत्कार,
क्रांतिकारी आविष्कार;
कौन नया काव्य, नई कलाकृति, दर्शन
चिन्तन-सिद्धान्त
मोह रहे मानव-उर, बना रहे बुद्धि-मन
चकित-उद्भ्रान्त—
ख़बर नहीं उनको। ढोतीं अस्तित्व-भार
काम, काम, काम,
श्रान्त कर तन से जड़ बुद्धि-मन से
आती रे शाम !
पहुँचकर घर पर देखती हैं बच्चों को
पकातीं भोजन,
आते हैं ताड़ी पिये अथवा सिनेमा देख
मालिक चंचल मन !
मालिक वे गेह के देह के
(उन्हें क्या वर्जित ?)

थकन से चूर तन चेतना-विहीन मन
जीवंत लाश-सी
कर देतीं अर्पित !

३

कविवर, क्या गाते हो ?
भारत के शहरों में गलियों में
गाँवों में सात लाख,
कोटि-कोटि शिशु और बालक
मैले-फटे वस्त्र पहिन,
कीचड़ में, धूल में, नालियों में
खेलते हैं मैले तन।
गन्दे हाथ-पैर बाँह-टाँगें
गन्दे सिर-आनन,
गन्दे स्वभाव-शील-गतियाँ
गन्दे वचन-मन।
आते हैं दसहरा-ईद-दीवाली
पाते है नये वसन
धुले-रँगे-चटकीले
दो दिन को बालगण।
फिर वही मैले वस्त्र, वही घर-द्वार
छा जाता हाय ! भोले मुखड़ों पै
घना अन्धकार !
भारतीय जन की यह मूक व्यथा, कष्ट-कथा
देख-सुन पाते हो ?
कविवर, क्या गाते हो ?

अख़बार

१

आ गया अख़बार !

एक जन चढ़ साइकिल पर

यंत्र-सा चल द्वार आता

(बात करने की कहाँ फ़ुर्सत उसे ?) नित डाल जाता

वस्तु वह—कहते जिसे अख़बार !

कटे-छाँटे-मुड़े कतिपय

काग़ज़ों का पुञ्ज है वह,

बड़े-छोटे विविध अक्षर,

नित्य का परिचित कलेवर,

पर न जाने क्यों हृदय को लोचनों को

बेतरह आकृष्ट करती, खींचती है

वस्तु वह—कहते जिसे अख़बार !

स्थगित करके काम सारे

मैं तुरत उठ बैठता हूँ,

किये विस्फारित विलोचन

(रुद्ध श्वास, प्रवृद्ध उर गति, बुद्धि-मन औत्सुक्य दीपित)

लौटता पन्ने, त्वरा से देखता हूँ

शीर्षकों का सघन कानन ।

२

एक दिन चौबीस घण्टे में हुआ क्या
कहाँ किसने क्या कहा, सोचा, किया क्या;
चल पड़ीं कल की किधर सम्भावनाएँ
और नर-व्यापार लेते दीखते है
कौन-सी नूतन दिशाएँ;
ले रहा करवट किधर इतिहास,
कम हुआ या बढ़ गया भावी समर का
युद्ध-ज्वर का त्रास।

३

आ गया अख़बार
आ गया नर-पुंगवों के कटु-मधुर अभिभाषणों का
पूर्ण विवरण, दीर्घतर वक्तव्य,
युद्धमंत्री, महामंत्री, गृह-सचिव, परराष्ट्र-मंत्री,
इस परिस्थिति मे बताते
देश का क्या प्रजा का कर्त्तव्य।

महानेता वे धुरन्धर है विचारक
देश-सेवी सर्वथा निःस्वार्थ औ' निर्लिप्त;
न्यायप्रिय वे शान्तिप्रिय हैं
कब उन्हे संघर्ष की है चाह;
किन्तु यदि छेड़ा किये यों ही विदेशी
तब रहेगी दूसरी क्या राह ?

न्यायप्रिय वे शान्तिप्रिय हैं
स्वार्थ, छल, विद्वेष से अनजान,
किन्तु उनके शत्रु—वे अभिसन्धिकारी
कपट-विग्रह-क्षुद्रता की खान ।

सत्यवादी वे बड़े हैं
क्योंकि उनका रेडियो पर, प्रेस पर अधिकार,
क्योंकि वे शतमुख सहसमुख
क्योंकि उनकी कल्पना उड़ती गगन में
निलज पंख पसार !

४

आ गया अखबार
एक दिन चौबीस घण्टे का मनुज का कार्य-लेखा
रोचक इतिहास
दीर्घ गोलाकार भूमि-बिसात पर
विश्व के नर-पुंगवों, अधिनायकों का ।
खेल-कौतुक, राग-रोषोल्लास ।

चल रही है भेड़-सी जनता जनार्दन
(याकि हाथी-ऊँट-घोड़े मोहरों सी ?)
बढ़ रहे उसके विविध अधिकार;
मिलेगा कुछ अधिक चारा, अधिक कपड़े
फर्निचर के कुछ खिलौने,
और मरने-मारने को नव्यतम हथियार !

५

आ गया अख़बार
क्यों चलित है चित्त मेरा, क्यों प्रकम्पित प्राण ?
क्यों हृदय को लोचनों को
बेतरह आकृष्ट करता खींचता यह ?
क्यों मथित करता हृदय को
क्षुद्रता में लीन नर का मूढतर अभियान ?

ज्योतिमुख उड़ते अरे क्यों स्वप्न—
कौंधती क्यों शत मनोरथ-बिजलियाँ,
दृष्टि का उन्मेष करने क्यों नखत-रवि-चन्द्र;
जब कि है अस्तित्व को घेरे गहनतर
तिमिर-पारावार,

जब कि दिन-दिन छल-कपट निर्लज्ज वंचन
दम्भ-मिथ्याचार-पीड़न
नीचता का
लेख ले आता बृहत्
अख़बार !

१९४८

मैं समझता था····

मै समझता था······

मै समझता था कि ऐसे ही सदा आती रहेंगी
चाँदनी रातें,
और तकिये पर सटाये सिर किया यों ही करेंगे
हम सरस बातें,

और यों ही खिलखिला हँसती करेगी गन्ध वितरण
रात की रानी,
और हर सिंगार से नित-नित सजेगी स्निग्ध कुन्तल
शरद की रजनी

मैं समझता था············मगर कैसा विवर्तन
शून्य-सा नभ दीखता है और पृथ्वी निराकर्षण !

मैं समझता था प्रिये यों ही कपोलों में रहेगी
कान्ति विमलोज्ज्वल
और अधरों में मधुर मुसकान प्राणों की उषा-सी
स्नेह की सम्बल;
और यों ही रूपजल में लहरतीं अलकें तुम्हारी
रहेगी निशदिन,

और यों हो स्पर्श में भरती रहेगी बिजलियाँ वे
उल्लसित कम्पन;
मैं समझता था................मगर कैसा विवर्तन
शून्य-सा आनन तुम्हारा शीत-से परिरम्भ-चुम्बन !

हिमगिरि की ऊँची चोटी पर

हिमगिरि की ऊँची चोटी पर
मैं खड़ा,
कस रहा कमर पर प्रश्न-शरों का तरकस
हाथों में संशय-धनुष
कान तक चढ़ा !

आच्छादित मेरे विशिखों से दिङ्मण्डल,
मूर्च्छित सब दानव-देव, विष्णु-आखंडल;

बन गईं कहानी सृष्टि-प्रलय-गाथायें,
लगतीं प्रलाप-सी तप-वरदान-कथायें।

हो गया नरक में कहीं द्युलोक तिरोहित,
औ नरक ? अतल सागर में कहीं निमज्जित,

दम्भी कौशिक औ' क्रोध-कलुष दुर्वासा,
निस्तेज, शान्त; क्या भय, क्या उनसे आशा ?

रवि, शशि, शनि, बुध, गुरु, शुक्र, भौम, ग्रह सारे
संवत-गणना के यन्त्र मात्र बेचारे;

विद्युत्किरणों, अणु-बम से भीत चकित-सा
अब काष्ठमूर्ति-सा जड़वत हुआ विधाता।

वह उपनिषदों का ब्रह्म न-नेति-निचय-सा
निर्वाण प्राप्त कर हुआ शून्य में लय-सा;
गीता का वह सुविराट् रूप खण्डित-सा
खो गया कहीं दिक्काल-गर्भ मे तिल-सा।
जड़ पिंडों के बृहदन्तराल में केवल
जलता अब नर का अहंदीप अरुणोज्ज्वल।

चलते-चलते

१

साइकिल पर जाता हुआ गोमती के पुल पर
कभी इधर, कभी उधर (बाईं ओर)
धूप में कभी, कभी बादलों की छाया में
कभी एकाएक आई वर्षा मे
देखता हूँ
मन्द-मन्द चलतीं—कभी ज्योति के किनारों से
घिरी रेखागणित की शक्लों-सी,
कभी ठंडी साँवली छायाओं में
सरिता के शत-शत
चितवन-संकेतों-सी;
और कभी उठती अधीर हो
चुम्बन-पिपासु प्रेमिकाओं के
अधखुले ज्योति-गर्भ मुखड़ों-सी,
व्योम-जल-आहता—गुच्छ-गुच्छ लहरें !

२

आफ़िस से लौट देख लेता हूँ
क्षण भर को गृहिणी का

काम से थका कुछ ममता से मृदु बना,
अर्थ की या आने वाले बच्चे की
चिन्ता से फीका-सा अँधेरा-सा,
अतिपरिचित, तेजहीन चेहरा।
और चल देता हूँ मैं बाज़ार,
अथवा सिनेमा-घर।
देखता हूँ राशि-राशि रमणियाँ
युवतियाँ, तरुणियाँ
अथवा वे तारिकाएँ।
भड़कीले चमकीले वस्त्र वे
लोभनीय अंगों पर फ़िट होकर चिपके हुए।
और वे निरवसाद, निश्चिन्त
अलमस्त गतियाँ;
बिजलियों-सी खेलतीं लाल-लाल अधरों पर
गिरतीं यहाँ-वहाँ
हँसियाँ—वे स्मितियाँ!

३

चाँद की उजाली में
गलियों में गुज़रता
तेज़ डग भरता
आते हुए देखता हूँ एक-एक कोठरी के
तंग उन मकानों के आगे
बाँस की खाटों पर
गन्दे कलौंच भरे

एक-सवा गज के सूती फटी चादरों के
इकहरे दोहरे बिछौने ।
और वे सोये हुए काले-गन्दे बच्चे
चीथड़े लपेटे हुए;
और वे मर्द, वे औरतें
श्रीविहीन, चिन्ता-क्लान्त, नीरस जवानियाँ;
धरती के भार जैसी बूढ़ों की बुढ़ियों की
वे कुरूप देहे ।

याद आजाते वे आफ़िस के घण्टे,
मालिकों के तेवर, घुड़कियाँ, धमकियाँ,
और वे चिन्ताएँ—आने वाले बच्चे की, अर्थ की;
और वह गृहिणी का कान्ति-शून्य चेहरा ।
और घूम जाते थके-से मस्तिष्क में
पार्टियों के नारे, महापुरुषों के भाषण
और इस घूमती धरा के
बेमानी रात-दिन ।
और अस्तित्व की यह काली-घनी छाया
कभी लम्बी, कभी छोटी,
दौड़ती, सरकती, रुकती
अर्थहीन, लक्ष्यहीन;
आँखों पै, स्मृतियों पै, काव्य-इतिहास पै
पड़ती—कसकती, खटकती ।
और वे फ़िलासफ़ियाँ, जीवन-सिद्धान्त—
नीरस-सरस कुछ कल्पनाएँ—

कौंध जाते क्लान्त मन-चित्त पर
थकी पग-गति में, श्रान्त धड़कनों में;
दीखते सबेरे के सपनों-से
दिवास्वप्न-सृष्ट संकल्पों से
पल-पल बदलते
चलते ....चलते !

१९५२

सोसायटी गर्ल

माना : उसकी उन आँखों में अंजन ही है—
अनुराग नहीं !
वे काली घनी कुटिल भौंहे,
गर्दन-कन्धों पर व्यस्त केश;
वे रंजित भरे अधर, शुभ्रारुण शुचि कपोल,
उभरे, ईषत् आवृत-से श्वेत दुपट्टे से
वक्षोज गोल !
भरने का सामाँ है सारा—मूर्च्छा के स्वर,
जीवन का सहज विहाग नहीं।
माना : उस तिर्यक् मुड़, हँस बातें करने में
कुछ चाह-प्रीति का पास नहीं;
विज्ञापन की लिपि-सी गतियाँ,
अभ्यस्त, सधी, मादक स्मितियाँ;
बस एक लक्ष्य-शत नयनों में लखना बलते
लालसा-अनल; अथवा सुनना सौ चाटु-वचन
उठते-बैठे, रुकते-चलते !
मृदु चाह समर्पण की न वहाँ—दृग-कोरों में
ममता का मधुमय लास नहीं।

माना, फिर भी क्या हर्ज कि ललचाई आँखें
क्षण भर टिक लें उसके इठलाते यौवन पर;
छू लें उसकी प्रज्ज्वलित अकुण्ठित रूप-शिखा,
प्राणों की प्रोद्दाहक दावा;
घृत-सी दीपित कर गर्व-ज्योति, देखें कितना
श्रीमय होता ईश्वरमानी नर का मुखड़ा !
क्या हर्ज कि टकराए उन अस्थिर नयनों से
कोई आकाङ्क्षाभरी नज़र !

क्या हर्ज कि जगती की बेमानी जड़ता में
क्षण जले अर्थ-दीपक की लौ;
क्षण कहीं किसी के तीर चलें,
क्षण कहीं जिगर-मन-प्राण जलें;
क्या जाने कल अणु-बम की भीषण लपटों में
कितने शाश्वत अरमान जलें !
विद्युत-कौंधों से क्यों न अमा में बहलें दृग
फटने का जब न भरोसा पौ !

१६५२

स्वर्ग-सन्देश

बीसवीं सदी, सन् दो-पचास
भारत से आया कोई नया कृती साधक,
कवि, कथाकार, चिन्तक—अथवा कहिये लेखक;
सुन स्वागतार्थ उत्सुक-उत्कण्ठित चले आप
कविता-नभेन्दु श्री कालिदास।

"स्वागत, स्वदेश के महिमा-मण्डित कलाकार
साधना-क्लान्त ! स्वर्लोक तुम्हें है मुक्त-द्वार;
अब पारिजात-पुष्पों के सौरभ से अमन्द
औ' अप्सरियों के स्मिति-आसव से खेद-द्वन्द
निज प्राणों का सब हरो; किन्तु यह क्या प्रियवर
तुम दीख रहे गहरे उदास ?"

बोला लेखक—"ऐ वाणी के प्रिय ज्योति-तनय !
कवि-मौलि-मुकुट ! त्रिभुवन-श्री के विभ्रम-अभिनय !
मैं हुआ धन्य या विश्व-वन्द्य कवि का दर्शन,
खण्डित कृतित्व ही देव, उदासी का कारण;
बीसवीं सदी के क्षुब्ध-छिन्न जन का गायक
—बज सके न मेरे गीतों में निश्चित दृढ़ स्वर;
प्रतिध्वनित वहाँ युग के कृत्रिम सुख-दुख-विधान,

कृत्रिम रस-ध्वनि, कृत्रिम प्रतीक, सौन्दर्य-मान,
कृत्रिम मैत्री-सौहार्द, कुटिल प्रणयाकर्षण
मिथ्या-प्रेरित उल्लास-हास !"

कालिदास—"क्या कहा ? काव्य मे कृत्रिमता को कहाँ स्थान,
जिस की वीणा पर बजते नर के मनःप्राण;
हैं बाह्य देशकालादि-भेद सारे विचित्र,
मानव अन्तस् में भाव-स्रोत पर एक मित्र,
सम्बन्धित जिन से विविध विश्व के रूप-रंग,
नाना जीवन स्थितियाँ—सब बनते रस-प्रसंग;
ध्रुव परिचित होता उन स्रोतों से कलाकार,
ढोया फिर क्यों नैराश्य-भार ?"

लेखक—"विच्छिन्न जहाँ अन्तर-स्रोतों से जन-जीवन,
मिथ्याचारों से गोपित नर का दारुण मन,
कवि किस प्रसंग का करे वहाँ वर्णन-चित्रण ?"

कालिदास—"हा शोक ! नहीं क्यों याद उसे रखते कविवर,
दे गये आदिकवि इसका जो समुचित उत्तर;
हैं वीर-चरित ही श्रेष्ठ काव्य का विषय अमर।"

लेखक—"रघुओं के गायक ! अभी न इतनी हुई क्षीण
यह स्मृति। कारण कुछ और कि जिससे ओज-हीन
कवि की वाणी। अब लुप्तप्राय वे नर-प्रवीर
साहस-निष्ठा की खान, शौर्य की मूर्त्ति धीर,

सुस्पष्ट मत्स्य औ' वैर, खुले जो थे अभीत
—अब राष्ट्रनायकों में घुस बैठी चोर-नीति।
मुख पे उदात्त आदर्श, हृदय में घोर कलुष
जन-हित-कामी दल-वन्दों के अग्रणी पुरुष!
छिन चुका आज नरपतियों का वंशाधिकार,
कम हुए न पर पद-शक्ति-लोभ, मद-अहंकार।
अरि-भूपों में चलती थी पहले कपट-चाल,
जन-मन पर नेता डाल रहे अब शब्द-जाल।
अब देश-देश में एक-एक नृप के बदले,
व्याख्यान-सूरमाओं के दल दस-बीस बने!
किसके कृत्यों को गा वाणी बन सके धन्य,
ले कहाँ प्रेरणा कवि, उदार?"

कालिदास—"हा कष्ट! आज सुर-मुनि-वन्दित भारत महान्
है वीर-शून्य; धिक् नियति-चक्र का दुर्विधान!
पर सखे, सुना निर्वाण हुआ था अभी उधर
युग-पुरुष एक निज प्राणों की आहुति देकर?"

लेखक—"दारुण कविवर, उल्लेख-मात्र यह मर्म-दहन,
ममता की छाती पर शिशु का सर्पिल दंशन;
करुणा-मूरत पर हिंसा का अकरुण प्रहार,
(काँपे थे वसुधा-व्योम देख वह अनाचार!)
था राजनीति का महामान्य! वह भी प्रसाद,
कब समझ सका बापू को छिछला तर्कवाद।

'आर्यत्व-विरोधी' कहते थे कुछ धर्मप्राण,
'पूँजी के साथी' इतर छोड़ते व्यंग्य-बाण।
संकुल कर मूल्यांकन के सारे मान देश
भूला था वीरों की करना पहचान देश।"

कालिदास—"पर सखे! न क्या सत्कवियों का ही कार्य प्रमुख
तम-मोह चीर जन-मन को करना ज्योतिर्मुख;
नव आत्म-बोध से जड़ता का गति रोध तोड़
देना जीवन को नया मोड़?"

लेखक—"ध्रुव सत्य आपका है कवीन्द्र! निर्देश विमल,
विभ्रमित कला के पथ का ज्योतिःस्तम्भ अचल।
पर खेद! विपर्यय हुआ आज ऐसा भीषण,
कवि नहीं, बने जीवन-द्रष्टा आलोचक-गण।
ले शक्तिधरों से प्रबल प्रेरणाएँ निशिदिन
कर रहे समीक्षक कवियों का शासन-शिक्षण।
है प्रेस-रेडियो पर जिसका जितना प्रभाव,
मानव-हित का उतना ही उसका प्रथित चाव।
नित नये बताते जन-हित के निश्चित साधन,
वेदना-मूक कवि के तकते जलभरे नयन।
जिसकी लाठी उसका विवेक, उसका दर्शन
सौन्दर्य-बोध उसका—जग में अब यही चलन।
अविरत करते जो शक्ति-साधना बढ़े-पले,
कब सत्य-अहिसा लग सकते हैं उन्हें भले?
निष्ठुर बहेलिये-सी फैलाये जटिल जाल

जन-जीवन को जो घेर-पकड़ करती निढाल,
उस राजनीति से टकराये क्या काव्य हृदय,
कैसे ले उससे कला-होड़ ?"

कालिदास—"हा मित्र! सुन नर-लोक की ऐसी कथा
उर में उमड़ती है व्यथा,
पशु-शक्तियों के प्रखर रण-हुंकार से
दलबन्दियों के तुमुल छद्म-प्रचार से
मूर्च्छित कला—मैं देखता।"

लेखक—"कवि स्वर्ण-युग के! त्राण पाये किस तरह
इस त्रास से जन-चेतना?
फिर मेघदूती मन्द्र-घन संगीत में
मृदु-सूक्ष्म मञ्जुल भावना के गीत में
हो काव्य-नर की व्यंजना?"

कालिदास—"प्रिय बन्धु!—कहता हूँ विवश—उसकी नहीं
सम्भावना कोई निकट,
जब तक न निर्मल न्याय, निर्भय सत्य की
रक्षार्थ निज स्वाधीनता के स्वत्व की
जन मिल खड़े हों एकमत।

"जब तक कुटिलतर दम्भ औ' षड्यन्त्र के
झड़ते नहीं वे विष-दशन,

जब तक न नर को मुक्ति नर-आघात से
दारिद्रय - जड़ता - दैन्य-भय - संघात से
संस्कृत न होंगे बुद्धि-मन।

"निर्मल हृदय के व्योम में ही खिल सके
कविता-कला की चन्द्रिका,

निर्भीक मति ही सत्य को पहचानती
निर्लिप्त मन ही न्याय का होता व्रती
स्वार्थान्ध में नय-नीति क्या ?

"भू लोक के औ' देश के वासी सखे
सब आज यह सन्देश लें,

शुचि सत्य की उर में जगाये वासना
स्वातन्त्र्य-समता-न्याय को ईप्सित बना
खल-शक्ति से संघर्ष लें।"

धरती और स्वर्ग

कौन जाने हैं कहीं नन्दन-कुसुम अमरावती मे
नित्य जिनका रूप-गन्ध-विकास,
किन्तु निश्चित मुस्कराते फूल मृदु मेरी धरा पर,
बॉटते कुछ क्षरण सुरभि-उल्लास ।

कौन जाने रूपसी चिर-यौवना वे अप्सराएँ,
खींचती ऋषि-तापसों के प्राण
आज भी पर स्निग्ध-कोमल दृष्टियों से मर्त्य वधुएँ,
दे रही विश्रान्ति-मधु का दान।

कौन जाने है कही वे देव-गरण पीयूषभोजी,
प्रिय जिन्हे स्तुति-अर्चना सविशेष,
और वह ईश्वर कि होता भक्ति से जो द्रवित सहसा,
काट देता कोटि बन्धन-क्लेश;

किन्तु निश्चित जानता मै क्लिष्ट मानव-जाति मेरी
सहज संकट-ग्रस्त, आकुल, दीन
शीघ्रतर होती द्रवित रे स्वल्पतर समवेदना से
आंसुओं में मुस्कराती क्षीरण ।

धरती और स्वर्ग

स्वर्गकामी यत्न से वे पूजते भगवान,
कर रहा मैं शुष्क अधरों पर मनुज के
कुछ क्षणों के हास का सन्धान !

मार्च, १६४६

जन्म-दिन

सेठ जी के लड़के का आज जन्म-दिन है,
चारों ओर कोठी मे व्यस्त ख़ुशी छा रही;
इधर-उधर आ-जा रहे भृत्य नये सूट पहने,
धीरे-धीरे जुट रहे भद्र मेहमान भी।

बज रहे रेडियो दो, और वहाँ सज रहे
कीमती नवीन उपहार भाँति-भाँति के;
और उधर 'लॉन' मे वस्त्रावृत मेज़ों पर
रेस्तराँ की प्लेटें खनकतीं सँजो रहीं।
(सेठ जी पढ़े-लिखे हैं, रुचियों में आधुनिक
केन्द्रवाली कौन्सिल के मेम्बर सम्मानित।)

देखिए वे देते हुए सस्मित बधाइयाँ
आ रहे वकील, जज, डाक्टर, प्रोफ़ेसर,
और लो मिनिस्टर भी (सेठ जी प्रसन्न हैं)
खद्दर-क्लैड, बापू के स्प्रिचुअल सक्सेसर[1]!

दीख रहा खड़ा उधर मा के साथ अपनी
ताकता चकित जमादारिन का लडका,

---

१. आध्यात्मिक वंशधर !

पूछा, "क्या उमर इसकी ?" बोली, "होई छै-सात,
मालिक से छोटे तीन-चार माह छोटा।"

(जानती न वह कि जनतान्त्रिक विधान में
सेठ का समाधिकार पुत्र-रत्न उसका !)

१६५२

वे बच्चे

वे बच्चे जो खेल रहे हैं धरा-गोद में
नगर-नगर में, गाँव-गाँव में,
घर-घर के आँगन में, छज्जों-चौपालों में:
दो-दो चार-चार बरसों के,
भिन्न वयों के,
नन्हीं दँतियों मृदु अधरों से हँसते अनगढ़ बातें करते;
किलक-किलक कर
दौड़धूप औ' उछल-कूद कर
घर-बाहर सब मुखरित करते,
माओं के दर्शक लोगों के उर-नयनों में
शीतल मंद-लेप-सा धरते;

क्या कहते हो—
वे मोहक हैं, आकर्षक हैं
भोले हैं, स्वर्गीय—स्नेह के पात्र
लाड़ के योग्य,
विपुल भावी की आशा।

नहीं समझते तुम—देखो उस ओर पूर्व में
औ' पच्छिम में

बड़े-बड़े वे नेता औ' डिक्टेटर
राजनीति के विज्ञ धुरन्धर
जन-सुख, जन-हित, प्रजातन्त्र औ' विश्व-शान्ति की
रक्षा में निशिदिन अति तत्पर;
हाथ उठाकर
कहते जनता को समझाकर
'अभी हमें बम और बनाना, और टैंक भी
और विशैली गैस, शक्ति ही
विश्व-शान्ति का एकमात्र सम्बल, रहस्य है।'
अणु-बम लेकर जब विमान सोल्लास उड़ेंगे
विस्तृत नभ में
शत्रु-देश के नारि-नरों को
उन बच्चों को
करते विक्षत-भस्म, तभी इस भूमण्डल पर
शान्ति विराजेगी अखण्ड।

क्या? तुम कहते हो—
वे बच्चे जो खेल रहे हैं धरा-गोद में
नगरों में, गाँवों में, माओं की गोदों में,
उनमें कितने फटे-पुराने वस्त्र पहनते
और तरसते दूध-दही को, अन्नमात्र को।

अहो घोर अज्ञान, अपरिचित हो नितान्त तुम
राजनीति से!
हमें चाहिएँ तोप-टैंक-बम, युद्ध-पोत शत
जल-सेना, थल-सेना, औ' योद्धा-विमान भी :

ताकि सुरक्षित रहे देश निज
तथा समादृत
औरों के मूर्धा पर संस्थित।

वे बच्चे जो खेल रहे हैं धरा-गोद में
फिर खा लेंगे अन्न-दूध-घी, फिर पहनेंगे
सुन्दर कपड़े; फिर पढ़ लेंगे, फिर लिख लेंगे।
अरे अभी तो
भू के देशों को करना सम्मान उपार्जित,
और युद्ध के भीषण उपकरणों को संचित;
और देखना महास्फोट, ताण्डव दृग-रंजन
महानाश की प्रलय-शिखाओं का विस्फूर्जन!

वे भोले मासूम विश्व के नन्हे बच्चे
क्या यदि बम-वर्षा से विक्षत, विगत-प्राण हों;
कब रोती हैं वीर-देश की वीर रमणियाँ,
वीर जननियाँ,
वीर सिपाही, सेनानी, नेता महान जो!
क्या यदि मर जाएँ जग के सब युवक और शिशु,
विधवा सब नारियाँ, पुत्र-हीना माताएँ,
वे न करेंगे आह!

धुरन्धर महापुरुष वे
सुखा चुके आँखों का सारा पानी,
गौतम की करुणा, माओं की माया-ममता
दुर्बल भावुकता के सम्बल
आज अरे ये हुए व्यर्थ, बेमानी!

इम्पीरियल बैंक

चेक भुनाने आज गया था मैं
इम्पीरियल बैंक।

सख़्त ज़रूरत थी रुपयों की
(हमेशा ही रहती है)
रुके थे काम कई, यद्यपि
छोटा ही चेक था,
सिर्फ़ बीस रुपये का।

बहुत बड़ा हॉल था
बहुत बड़ी बिल्डिग में;
लम्बी ऊँची दीवारें,
चौड़ी, विशाल छत,
(प्राग्-अगस्त-क्रान्ति की पुती हुई)
ऊर्णनाभि-तन्तुओं से भूषित जहाँ-तहाँ।

दृढ़ काष्ठ-भित्तियों के
पीतल के सीख़चों के
पीछे ऊँची बेढंगी कुर्सियों पर
बैठे वे क्लर्क-गण।

एक के समीप जाकर
किये मैंने हस्ताक्षर,
'टाकिन' ले रुका रहा देखने को
कब चेक जाता है
यात्रा कर उस ओर।

पाँच मिनट बीत गये:
ना जाने कितने फार्म-चेक मेरे मित्र
इधर-उधर भेजा किये।
समझा मैं मेरा भी चेक गया,
और उधर बढ़ गया
दूसरे काउन्टर पर।
अप्रिय थी खबर वहाँ,
खैर मैं खड़ा रहा;
पांच मिनट, सात मिनट, दस मिनट।
हार कर गया मै पास पूर्व क्लर्क के।
व्यस्तता से बोला, "सब बात है किताबों की
खाली थीं किताबें नहीं, अभी पेमेन्ट हुआ
पचपन हज़ार का, फलां राजासाहब को;
दस मिनट रुकिये।"

पचपन हज़ार! सुन चुपचाप लौटा मैं,
क्षुद्रता को अपनी
क्लर्क की, स्वयं निज दृष्टि से बचाता-सा।
दस मिनट, बीस मिनट

बीत चुके, बीत रहे जीवन के अमोल क्षण।
देखता मैं इधर-उधर;
पाँति-पाँति क्लर्क गण
दस, बीस, तीस, या पचास नहीं,
दो-सौ से कम नहीं,
झुके सब किताबों पर।
(देखो ये महाकाय रजिस्टर
तुलसी के मानस की दस-दस प्रतियों से
गुरुतर, बृहत्तर;
सभ्यता के महाग्रन्थ, आवश्यक लेन-देन-विनिमय के
सही लेख-उल्लेख।)
झुक-झुक के लिख रहे,
(ताँता लगाये उधर काउण्टर पै
कितने ही जन खड़े;)
देन-लेन करते हैं, बातें भी—काम की।
नहीं-नहीं, बातें कहाँ—बोलते हैं
जीवित मशीनों से होंठों पर, जिह्वा पर
सार्थक पर सारहीन शब्दों को तोलते हैं।
(फुर्सत कहाँ जो करें चर्चा सुख-दुख की!)

और सच पूछिए तो,
आफ़िस में सुख कहाँ, दुख कहाँ।
सुख कहाँ—सिर्फ आत्म-विस्मृति है;
दुःख नहीं—सिर्फ परेशानी है;
और है सबेरे से साँझ तक

नौ-दस से चार तक, पाँच तक
अनुक्षण महत्त्वपूर्ण, अनुपेक्ष्य
दुर्भर दुसह काम।

खड़ा हूँ मैं परेशान
(कैसे कहूँ कि मैं दुखी हूँ !)
बीतते नहीं क्षण प्रतीक्षा के,
बीतता नहीं काल;
ज़िन्दगी की घड़ियों से भी मित्रवर
ऊब हो जाती है।
थका हूँ मैं, बेञ्च भी पड़ी है एक
किन्तु वहाँ तिल-भर भी जगह नहीं;
बैठे हैं अनेक जन सटे हुए।

बैठे हैं किन्तु आश्चर्य वे
सब हैं नितान्त चुप,
एक-दूसरे से कोई कुछ भी
बात करता नहीं;
एक-दूसरे में कोई अभिरुचि
लेता न रंच भी।
सब हैं नितान्त चुप, थके-से
ऊबे-से मन से
ऊबे ज़िन्दगी से;
सभ्यता ने नर को बना दिया
नीरस, अरोचक।

जड़ कागजों से किताबों से
देन-लेन-विनिमय के धन्धों से
दिन-भर उलझते हुए क्लर्क वे
देखते हैं, सुनते हैं यन्त्र-से।
(और कभी-कभी ऊब मेटने को
गन्दी हँसी करते !)

इस बड़ी बिल्डिंग में,
इस बड़े हॉल में,
मानवीय सुख-दुख की, हृदय की
बात कभी होती नहीं।
जीकर भी जीते नहीं जन यहाँ,
होकर भी होता नहीं
जीवन का काम कहीं।

फिर भी है आवश्यक बैंक यह
रक्षा-हित सभ्यता की,
रक्षा-हित कीमती विषमता की।
रक्षा-हित इस भावना की—
कि मैं तुच्छ, वे श्रेष्ठ;
मैं नगण्य, वे धन्य;
अधमाधम मैं, वे देवोपम;
कि मैं करूँ कितना भी परिश्रम,
कितनी भी मिहनत,
किन्तु कभी मेरा बैलेन्स नहीं;

होगा पचपन हज़ार;
और मैं न हो सकता वैसा
जैसे हैं बिड़ला जी महामना,
और श्री डालमिया,
और वे जुग्गीलाल कमलापत।
कि उन प्रासादों में, बगीचों में
वैसी भव्य मोटरों में
मैं न कभी रह सकता, बैठ सकता
और नहीं मेरे शिशु।
क्योंकि जन्म हुआ मेरा
निम्न मध्य वर्ग में;
क्योंकि साठ-सत्तर, पिचहत्तर
(नौकरी से, ट्यूशनों से)
मेरी कुल आय है;
क्योंकि अन्न-वस्त्र का भी पत्नी को, बच्चों को
रहता अभाव नित
और दूध-दही-घी-मक्खन तो
हमें स्वप्नप्राय है।

चाय पी लेता हूँ बेशक मैं
सस्ती औ' फैशनेबुल;
काम से थके मस्तिष्क को
तन को, मन को
देती है विराम बहुत;
फिर भी न जाने क्यों अक्सर

रहता है सुस्त जी,
और काम करने की शक्तियाँ
क्षीण हुई जाती हैं।
सुनता हूँ खुश्की भी करती है
चाय बिना मक्खन के। लेकिन फिर
करें क्या? बदले मे पियें क्या?
और—सच कहूँ—कम्बख्त अब
मुँह से लग गई है।
(लो वहाँ आये कुछ नये चेक
पेमेण्ट के काउण्टर पर;
भाग्य आज़माऊँ एक बार फिर
उस ओर जाकर।)

तीन रूबाइयाँ

धरती पै स्वर्ग लाने वाले हैं,
जन की व्यथा मिटाने वाले हैं;
दो बूँद नहीं आँखों मे पानी,
मरु को चमन बनाने वाले हैं!

वक्ता हैं मगर सत्य से अपरिचित,
नेता है मगर राह से अपरिचित;
करते हैं ज़माने की मसीहाई,
दुखियों के मगर दर्द से अपरिचित।

पद-शक्ति को ज्यों जोंक पकड़ने हैं,
हर अपने विरोधी पे अकड़ने हैं;
हिम्मत है किसे उनकी करे समता,
समता के लिये जन की वो लड़ते हैं!

१९५२

मेरी आह का उनके हृदय पर

मेरी आह का उनके हृदय पर
हो सका न प्रभाव,
मुमकिन था कहाँ दिखला सकूँ
दिल का, जिगर का घाव;
वह निर्द्वन्द्व थे उस ओर, मैं
लाचार था इस ओर,
अम्बर-बेल-सा बढ़ता रहा रे
विफल मन का चाव!

१९५२

दूर खड़े मुसकरा रहे हैं वह !

दूर खड़े मुस्कुरा रहे हैं वह,
बिजलियाँ फिर गिरा रहे हैं वह;
मैं शपथ ले चुका न जाने की,
पास फिर क्यों बुला रहे हैं वह ?

क्यों यह मजबूर हो रहे हैं हम,
खुद ही से दूर हो रहे हैं हम;
कब छुआ—देख-भर लिया था जाम
नशे में चूर हो रहे हैं हम !

यह न पूछो कि घाव कैसा है,
दर्द कैसा है, चाव कैसा है;
जागना जिससे मौत बन जाए
बेख़ुदी का वह ख्वाब कैसा है !

कहते थे दुनिया ही बदल देंगे,
नई आशा, उमंग, बल देंगे;
हाय कब सोचा था कि यों दिल को
तोड़ देंगे, मसल-मसल देंगे !

धरती और स्वर्ग

मेरे हँसने पे भड़कते हैं वह,
मेरे रोने पै घुड़कते हैं वह;
चुप रहूँ जो मैं तो आ जायेगा
स्वर्ग धरती पै—समझते हैं वह!

१९५२

प्राण में अब भी व्यथा कुछ शेष है

प्राण मे अब भी व्यथा कुछ शेष है,
आँख मे अब भी तरलता शेष है;
सुनने वाले उठके क्यों चलने लगे,
दर्द की मेरे कथा कुछ शेष है!

होंठ पर मुसकान बाक़ी है अभी,
हाय! वह अभिमान बाक़ी है अभी;
जाने आगे और क्या होने को है
चित्त में अरमान बाक़ी है अभी!

मन में उनकी याद अब भी शेष है,
आह में फ़रियाद अब भी शेष है;
शान्ति की आशा बहुत-कुछ थी, मगर
यह दिले बरबाद अब भी शेष है!

दृग-पुटों में नीर बाक़ी है अभी,
और उर में पीर बाक़ी है अभी;
साथ हर धड़कन के जो खटका करे
चाह का वह तीर बाक़ी है अभी!

१९५३

बज़्म में यों मुसकराना और है

बज़्म में यों मुसकराना और है,
प्रेम का दीपक जलाना और है;
और यह श्रृङ्गार-सज्जा का है चाव,
अपना बनना औ' बनाना और है!

विश्व-पीड़ा की जलन कुछ और है,
मंच का उपदेश-भाषण और है;
और है नेतागिरी की साधना,
देश-सेवा की लगन कुछ और है!

सत्य का सुनना-सुनाना और है,
हाँ में उनकी हाँ मिलाना और है;
खोज मंज़िल की व पथ की है अलग,
लीक में चलना-चलाना और है।

१६५३

क्लर्क

सवेरे-साँझ चाय पीता है,
डालडा खा ख़ुशी से जीता है;
कौन जाने शरीर में क्या है,
दिल है खाली दिमाग़ रीता है!

कलम से मन से काम करता है,
यों ही हर दिन को शाम करता है;
है समझदार भी कि साहब को
बा-अदब झुक सलाम करता है।

हौसले मन के थके जाते हैं,
बाल जल्दी ही पके जाते हैं;
वोट देता है, बहस करता है,
ज़ीस्त के दिन खिसके जाते हैं।

१६५३

इतिहास का निर्माण अभी बाक़ी है

वह मौत का सामान अभी बाक़ी है,
औ' शक्ति का अभिमान अभी बाक़ी है;
कवि बन्द न कर अपने व्यथा के गाने,
इन्सान में हैवान अभी बाक़ी है।

आँखों में दिलों में अभी डर बाक़ी है,
बलवान की त्योरी में क़हर बाक़ी है;
कल शान्ति रहेगी कि छिड़ जायेगी जंग,
हर मन में यह चिन्ता का ज़हर बाक़ी है।

अन्याय का अभिमान अभी बाक़ी है,
असमर्थ का अपमान अभी बाक़ी है;
ओ वीर! ठहरने का कहाँ प्रश्न अभी,
इतिहास का निर्माण अभी बाक़ी है।

१९४३

नये वर्ष, नव वसन्त, आ !

नये वर्ष, नव वसंत, आ !
नये फूल, नयी गंध,
नव पराग ला।

नष्ट हों पुरातन की
लक्ष भ्रान्तियाँ,
युग-युग के द्वेष-दहन
कटु अशान्तियाँ;
देश-देश जन-जन में
मानव-उर जीवन में
नव विकास, नव परिमल,
नव द्युति फैला
नये वर्ष, नव वसंत, आ !

जन-मन में हो प्रबुद्ध
नयी चेतना,
नया आत्मभाव नयी—
बंधु-भावना;
कूटनीति-नागिनी का
खंडित हो गरल-दशन,

मानव का मानव से
सहज सरल मनोमिलन;
गर्व का तुषार, शीत
मद का हटा ·
नये वर्ष, नव वसंत, आ !

१६४८